

भाजपा के बौद्धिक बंदर

रूस के कम्युनिस्ट युग (सोवियत संघ) में सत्ताधारी – स्तालिन, ख्रुश्चेव, ब्रेझ्नेव, गोर्बाचेव – हर अगला पिछले को अपराधी या मूर्ख बताते रहे। और वहाँ के बौद्धिक उसे सही ठहराते रहे। जिस काम को कभी बौद्धिकों ने महान बताया था, उसी को अगले सत्ताधारी के समय भारी गलती या मूर्खता कहा। सोवियत संघ के अंत तक यह कई बार हुआ।

कुछ उसी तरह की प्रवृत्ति भाजपा समर्थक बौद्धिकों में पनप रही है। सत्ताधारी भाजपा के हर तरह के काम, बयान, चुप्पी, रंग-ढंग को वे किसी न किसी तरह उचित ठहरा रहे हैं। नेताओं के मनमौजी निर्णयों और दिन-दिन बदलते नारे, जुमले या दावे को बड़ी देन बताते हैं। इस का विषय इतनी जल्दी-जल्दी बदलता है कि आश्चर्य होता है!

ऐसे बौद्धिक यह भी विचार नहीं करते कि पिछले दावे का क्या हुआ? वे बस सब से नया जुमला प्रचारित करने लगते हैं। यदि कल कोई नेता चौकीदारी के बदले पच्चीकारी का बखान करे, तो 'मैं भी चौकीदार' बोलने वाले उस पर ताली पीटते 'मैं भी पच्चीकार' कहने लगेंगे। लफ्फाजी और सच्चाई के बीच की रेखा गड्ढ-मड्ढ हो गई है।

अधिकांश बौद्धिकों ने अपना धर्म छोड़ दिया है। किसी बात को जाँचने-परखने, तदनुसार सही गलत तय करने और उपाय सुझाने का कर्तव्य भूल कर पार्टियों के पक्ष में तर्क गढ़ना काम बना लिया है। यह चापलूसी नहीं, बल्कि सोवियत शैली की विचारहीनता है। जनता को पार्टी, फिर पार्टी को एक गुट, और गुट को भी केवल एक नेता व उस के विश्वासपात्रों द्वारा विस्थापित कर सारा विमर्श एवं निर्णय एक जगह केन्द्रित हो जाना।

इस प्रकार, अनेक लोगों ने सोचने समझने का कर्तव्य क्रमशः पार्टी > सत्ता धारी गुट > तात्कालिक नेताओं को सौंप दिया है। वे नेता की हर विचित्रता को दूरदर्शिता, और जरूरी कामों पर अकर्मण्यता को किसी गोपनीय योजना का अंग होने की बेसिर-पैर कल्पना कर लेते हैं। धर्म-शत्रुओं पर चादर चढ़ाने, किसी मध्ययुगीन लुटेरे को महान मार्गदर्शक कहने, और इसी तरह की गलत शिक्षा स्कूलों में चलाने, आदि को नेता की 'चतुराई' कहने लगते हैं। वह सब अनाड़ीपन, अज्ञान या भीरुता भी हो सकती है, यह सुनते ही वे कटखने बंदर से किटकिटाने लगते हैं।

ऐसे ऊट-पटांग कामों और प्रचार से पार्टी तो एकाधिक बार जीतती रहे, पर राष्ट्रीय हितों में संध लग जा सकती है। ठीक उसी तरह, जैसे 1920 ई. के बाद यहाँ कांग्रेस के लगातार लोकप्रिय बने (जीतते) रहने से देश पर मजहबी घात कम न हुआ। उलटे सशक्त होता गया, क्योंकि उस की उपेक्षा की गई थी। इस मामले में तब और आज शायद ही कोई अंतर आया है।

इस कड़वी सच्चाई को न देखने वाले प्रायः सोवियत बौद्धिकों जैसी दलीलें देते हैं, जिस में प्रमाण की चिन्ता नहीं रहती। अनुमान, जिद, और उस के बार-बार दुहराव को ही पर्याप्त माना जाता है। न मानने वाले पर सोवियत शैली में ही संदेह व भर्त्सना होती है।

किन्तु कोरा अंधविश्वास हानिप्रद होता है। कोई किताब या घोषणापत्र हो, अथवा पार्टी, पैगंबर, नेता – उस पर अपनी रुचि अनुसार विश्वास के साथ-साथ अपना स्वतंत्र विवेक भी अवश्य बना रहना चाहिए। वरना वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों चेतना ठस होती जाती है। युगों तक रूसी बौद्धिकों और समाज का यही हाल रहा। आज हमारे अनेक बौद्धिकों की स्थिति कुछ वही हो गई है।

चेतना बने रहने की दृष्टि से अंध पार्टी-बंदी अफीम जैसी है। इस का लाभ राष्ट्रीय हितों में सेंध लगाने वालों को मिलता है। वे मजे से अपना काम बढ़ाते जाते हैं। अभी भारत में इस से भी बुरा हो रहा है। नित नये तमाशे करते भाजपा सत्ताधीशों ने अपने अनेक समर्थकों को ऐसे बंदरों में बदल डाला है, जो हर तमाशे पर ताली बजाते हैं। ताली न बजाने वाले समर्थक को भी काट खाने लगते हैं।

फलस्वरूप, हमारे धर्म और समाज को हानि पहुँचाने वाले विचारों, कार्यों, लोगों और संस्थानों को खत्म करने पर सोचने के बजाय इस का ध्यान दिलाने वाले को ही बुरा-भला कहा जाता है। वास्तविक सोच-विचार को तिलांजलि देकर वे पार्टी-प्रायोजित शोर-शराबा करने वाले गिरोह बन कर रह गए हैं। इसी को बौद्धिक, शैक्षिक, सामाजिक कार्य मान रहे हैं।

असंख्य लोग बदलते नेताओं के मतिहीन भक्त हो गए हैं। कोई नेता मंदिर के लिए रथयात्रा करे तो वह भी होशियार ; उसी यात्रा पर कोई सिर पीट ले तो वह भी लाजबाव ; कोई देवालय से बढ़कर शौचालय बताए तो वह भी बेहतरीन। कोई अगला नेता शोशेबाजी को घटिया बताकर कोई अन्य चोंचला अपना ले, तो ऐसे लोग उसे भी चमत्कारी कह-कह कर बिछुने लगेंगे...

किन्तु ठोस समस्याओं का सामना, और काम की सच्ची परख करने के बजाय नेताओं की हवाबाजी पर वाहवाही करना न केवल अपना धर्म छोड़ना, बल्कि समाज के साथ विश्वास-घात भी है। लेखकों, पत्रकारों से आशा रहती है कि वे निष्पक्ष विचार करते हुए सभी बातें बताएं। पर अब अधिकांश विमर्श मुख्यतः किसी पार्टी या नेता की आदतन निन्दा और आदतन प्रशंसा में बँधकर रह गया है। यह सब सोचने-समझने को तिलांजलि दे देना ही है।

मामूली परख भी नहीं की जा रही कि 'चौकीदारी' से आशय क्या है। किस से चौकीदारी ? क्या देश के आम लोग अब पापियों, अपराधियों, रहजनों, बलात्कारियों, दुष्टों के भय से मुक्त हो गए हैं – क्योंकि कोई चौकीदार आ गया ? अथवा, क्या व्यापारी और दुकानदार निर्भय हुए कि अब लुटेरों को ढेर कर देने वाला कोई है ? या कि अब राजनीतिक दल किसी भी स्रोत से बेहिसाब धन-संग्रह, एवं राजकोष का पार्टी और अपने लिए निर्बाध दुरुपयोग नहीं कर सकेंगे ? इन ठोस बिन्दुओं पर जिसे जो मन आए समझे, क्योंकि 'अच्छे दिन' की तरह 'चौकीदार' भी एक हवाई मुहावरा ही है, जिसे कोई स्पष्ट अर्थ नहीं दिया गया।

फलतः यह परखना असंभव है कि 'चौकीदार' जुमला देने वाले की मंशा क्या थी। वह हरेक कसौटी से फिसल कर निकल जाएगा कि उस ने कुछ पक्का तो कहा नहीं था ! जैसे: अब थानों, सरकारी दफ्तरों में रिश्वत बंद होगी ; या बेबस लोगों को कोई न सता सकेगा ; या बाहरी-भीतरी जिहादी कहीं घुसपैठ या हमला नहीं कर सकेंगे ; आदि। जुमला किसी अर्थ से बाँधा न जाकर अपनी-अपनी कल्पना से व्याख्यायित होगा। फिर जल्दी ही किसी दूसरे जुमले से विस्थापित हो जाएगा। तब बौद्धिक उसे सही

बताने में बुद्धि लगाएंगे।

यह प्रवृत्ति समाज के लिए अहितकर है। बौद्धिकों का दलबंदी के बजाए अपने धर्म और विवेक से बँधना ही श्रेयस्कर है। वरना वे बंदर बनाए जाते रहेंगे। कम से कम इस की परख के लिए उन्हें स्वयं कोई कसौटी बनानी चाहिए।

साभार- <https://nayaindia.com> से